

सतपुड़ा की अनूठी खेती है उतेरा

बाबा मायाराम

इन दिनों खेती-किसानी का संकट गहरा रहा है। नौबत यहां तक आ पहुंची है कि किसान अपनी जान दे रहे हैं। पिछले 16 सालों में ढाई लाख किसान आत्महत्या कर चुके हैं। होशंगाबाद ज़िले में भी आत्महत्याएं होने लगी हैं। अब सवाल है कि क्या आज की भारी पूंजी वाली आधुनिक खेती का कोई विकल्प है। मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में परंपरागत खेती में इस विकल्प के कुछ सूत्र दिखाई देते हैं, जो मैंने हाल ही में उन किसानों से जाने जिन्हें आदिवासी किसान सालों से करते आ रहे हैं।

सतपुड़ा घाटी के दतला पहाड़ की तलहटी में बसा है धड़ाव गांव। यहां की प्राकृतिक सुंदरता अपूर्व है। हाल ही में खेती-किसानी के अध्ययन के सिलसिले में मेरा यहां जाना हुआ। तब चने की फसल कट रही थी। यहां का किसान गनपत हंसिया से चने काट रहा था। खेत में एक मचान बना हुआ था जहां से वह सुअर और चिड़िया भगाता है, जंगली सुअरों व सांभर से फसल की रखवाली करता है।

होशंगाबाद ज़िला भौगोलिक रूप से दो भागों में बंटा है। एक है सतपुड़ा की जंगल पट्टी; दूसरा है नर्मदा का कछार। धड़ाव गांव जंगल पट्टी का है और दूधी नदी के किनारे स्थित है। यह नदी ज़िले की सीमा निर्धारित करती है। जंगल पट्टी में प्रायः सूखी और असिंचित खेती होती है जबकि नर्मदा के कछार में तवा बांध की नहरें हैं। कछार की ज़मीन काफी उपजाऊ मानी जाती है लेकिन अब यह लाजवाब ज़मीन भी जवाब देने लगी है।

सतपुड़ा की जंगल पट्टी में परंपरागत खेती की पद्धति प्रचलित है जिसे उतेरा कहा जाता है। इसमें 6-7 प्रकार के अनाजों को मिलाकर बोया जाता है। इस अनूठी पद्धति में ज्वार, धान, तिल्ली, तुअर, समा, कोदो मिलाकर बोते हैं। एक साथ सभी बीजों को मिला कर खेत में बोया जाता है और बक्खर चलाकर पेंटा लगा देते हैं। फसलें जून (आषाढ़) में बोई जाती हैं लेकिन अलग-अलग समय में काटी जाती

हैं। पहले उड़द, फिर धान, ज्वार और अंत में तुअर कटती है। कुटकी जल्द पक जाती है।

60 की उम्र पार कर चुके गनपत बताते हैं कि इसमें किसी प्रकार की वित्तीय लागत नहीं है। खुद की मेहनत, बैलों का श्रम और बारिश की मदद से फसल पक जाती है। हर साल वे अगली फसल के लिए बीज बचाकर रखते हैं और उन्हें खेतों में बो देते हैं। उनके पास बैल हैं जिनसे खेतों की जुताई करते हैं। मवेशियों से गोबर खाद मिलती है जिससे खेतों की मिट्टी उपजाऊ बनती है।

उतेरा से पूरा भोजन मिल जाता है। दाल, चावल, रोटी और तेल सब कुछ। इसमें दलहन, तिलहन और मोटे अनाज सब शामिल हैं। इन सबसे साल भर की भोजन की ज़रूरत पूरी हो जाती है। मवेशियों के लिए चारा और मिट्टी को उर्वर बनाने के लिए जैविक खाद मिल जाती है। यानी उतेरा से इंसानों के लिए अनाज, मवेशियों के लिए फसलों के डंठल, भूसा और चारा, मिट्टी के लिए जैविक खाद और फसलों के लिए जैविक कीटनाशक प्राप्त होते हैं।

गनपत की पत्नी बेटाबाई, गांव के पाजी और चन्द्रभान आदि किसानों का भी यही मानना था। रामख्याली ठाकुर तो इस खेती को रासायनिक खेती से भी अच्छा मानते हैं क्योंकि इसमें लागत बिलकुल नगण्य है। रासायनिक खाद और कीटनाशक भी नहीं के बराबर लगते हैं। रासायनिक खाद के बारे में चन्द्रभान ने कहा कि वे तो मछन्दी (धरती) को भूंज (भून) रहे हैं। शायद इसका मतलब यह है कि रासायनिक खाद मिट्टी को उपजाऊ बनाने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं को खत्म कर रही है।

ज़िला गजेटियर के अनुसार पहले इस इलाके में मिलवां फसलें होती थी। जिसमें मिट्टी में उपजाऊपन बनाए रखने के लिए फलीवाले अनाज बोए जाते थे। अलग-अलग अनुपात में मिलवां फसलें बोई जाती थी। गेहूं और चना मिलाकर बिरा बोते थे। तिवड़ा और चना मिलाकर बोते थे। कपास,

तुअर, तिल, कोदो और ज्वार मिलवां बोते थे। किसान यह भलीभांति जानते थे फलीदार फसलें मिट्टी को उर्वर बनाती हैं और उत्पादन बढ़ाने में मददगार होती हैं।

कई फसलें एक साथ बोन से पोषक तत्वों का चक्र बराबर बना रहता है। अनाज के साथ फलीदार फसलें बोन से नाइट्रोजन आधारित बाहरी निवेशों की ज़रूरत कम पड़ती है। उतेरा पद्धति के बारे में किसानों की सोच यह है कि अगर एक फसल मार खा जाती है तो उसकी पूर्ति दूसरी फसल से हो जाती है। जबकि नकदी फसल में कीट या रोग लगने से या प्राकृतिक आपदा आने से पूरी फसल नष्ट हो जाती है जिससे किसानों को भारी नुकसान होता है। हाल ही में यहां सोयाबीन की फसल खराब होने से 3 किसानों ने आत्महत्या की है। मिश्रित और मिलवां फसलें एक जांचा-परखा तरीका है। इसमें फसलें एक-दूसरे को फायदा पहुंचाती हैं।

कुछ साल पहले हर घर में बाड़ी होती थी जिसमें उतेरा की ही तरह मिलवां फसलें हुआ करती थीं। बाड़ी में घरों के पीछे कई तरह की हरी सब्जियां और मौसमी फल और मोटे अनाज लगाए जाते थे। जैसे भटा, टमाटर, हरी मिर्च, अदरक, भिंडी, सेम (बल्लर), मक्का, ज्वार आदि होते थे। मुन्गा, नींबू, बेर, अमरूद आदि बच्चों के पोषण के स्रोत होते थे। इनमें न अलग से पानी देने की ज़रूरत थी और न ही खाद। जो पानी रोज़ाना इस्तेमाल होता था उससे ही बाड़ी की सब्जियों की सिंचाई हो जाती थी। लेकिन इनमें कई कारणों से कमी आ रही है।

कुल मिलाकर, जंगल में रहने वाले लोगों की जीविका उतेरा खेती और जंगल पर निर्भर होती है। खेत और जंगल

से उन्हें काफी अमौद्रिक चीज़ें मिलती हैं, जो पोषण के लिए निःशुल्क और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। ये सभी चीज़ें उन्हें अपने परिवेश और आसपास से मिल जाती हैं। जैसे बेर, जामुन, अचार, आंवला, महुआ, मकोई, सीताफल, आम, शहद और कई तरह के फल-फूल, जंगली कंद, और पत्ता भाजी सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। ये सब पोषण और भोजन के प्रमुख स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो यह खेती एक जीवन पद्धति है जिसमें जैव विविधता का संरक्षण भी होता है, मिट्टी, पानी और पर्यावरण का संरक्षण भी होता है।

देखा जाए तो हमारे देश के अलग-अलग भागों में परिस्थिति, आबोहवा और मौसम के अनुकूल परंपरागत खेती की कई पद्धतियां प्रचलित हैं। कहीं सतगजरा (7 अनाज), कहीं नवदान्या (9 अनाज) तो कहीं बारहनाजा (12 अनाज) की खेती पद्धतियां हैं। इनकी कई खूबियां हैं। इनसे कीटों की रोकथाम होती है, मिट्टी का उपजाऊपन बना रहता है, खाद्य सुरक्षा होती है। यह सघन खेती की तरह है, जिसमें भूमि का अधिकतम उपयोग होता है।

चूंकि अलग-अलग समय में फसलें पकती हैं, इसलिए परिवार के सदस्य ही कटाई कर लेते हैं। इस कारण न तो अतिरिक्त महंगे श्रम की ज़रूरत पड़ती है और न ही हारवेस्टर जैसे उपकरणों की। मशीनों के कम उपयोग से ग्लोबल वार्मिंग का खतरा भी घटता है। यानी यह परंपरागत खेती खाद्य सुरक्षा, मिट्टी के संरक्षण, पशुपालन, जैव विविधता व पर्यावरण संरक्षण, सभी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह खेती की सर्वोत्तम विधि है जिसका कोई विकल्प अब तक नहीं है। (**स्रोत फीचर्स**)